॥ ओ३म् ॥

# परमेश्वर का जीवों के प्रति आश्वासन, अनुग्रह भाव एवं प्रतिज्ञा

**अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।**
**यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥**
(ऋग्वेद–10.125.5)

ईश्वरीय शक्ति कहती है कि जो वेदानुकूल आचरण तथा योग साधना करते हैं, मैं उन सत्पात्रों पर अनुग्रह करती हूँ, उन्हें प्रबल पराक्रमी, ब्रह्मज्ञानी, ऋषि एवं उत्तम मेधासम्पन बना देती हूँ।

**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥**
(ऋग्वेद–1.1.6)

हे परमेश्वर! तू समर्पण करने वाले भक्त का सदा भद्र (मंगल) ही करता है। यह तेरा सत्य व्रत है।

**न मे भक्तः प्रणश्यति।** (गीता–9.31)

मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है।

**योग-साधना के तीन आधार स्तम्भ हैं–**

## शुद्ध ज्ञान

**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।** (मनु.-2.6)
वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है।

**सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।** (अथर्व-1.1.4)
हम ज्ञान से सदा युक्त रहें, कभी ज्ञान का विरोध न करें।

**मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।** (अथर्व.-1.1.3)
उपार्जित ज्ञान सदा मुझमें बना रहे।

## शुद्ध कर्म

**ऋषीणां चरितं सत्यम्।**
ऋषियों का चरित सत्याचरणपूर्ण होता है।

**महाजनो येन गतः स पन्थाः।** (पञ्चतंत्र, अपरीक्षित-40)
महापुरुष जिस मार्ग से जाते है, वहीं सच्चा मार्ग होता है।

**ऋषियो के प्रति पूर्ण निष्ठा व कृतज्ञता रखते हुए स्वयं को ऋषि-ऋषिकाओं जैसा बनाना है। हमें भगवान् का, ऋषियों का, ऋषि संस्कृति व राष्ट्र का प्रतिनिधि व प्रतिरूप होकर जीना है।**

## शुद्ध उपासना

**व्यवहार काल एवं साधना काल के योग को सिद्ध करते हुए परोपकार तथा आत्मसाक्षात्कार व ब्रह्मसाक्षात्कार करना।**

# साधना काल का योग – समाधि, उपासना

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** (योगसूत्र–1.1)

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इससे आत्मा अपने शान्त स्वरूप में मग्न हो जाता है।

**अभ्यासवैराग्यां तन्निरोधः।** (योगसूत्र–1.12)

अभ्यास एवं वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। जब तक इन्द्रिय–विषयों में राग रहता है, तब तक मन चंचल व अशान्त रहता है, परन्तु जब व्यक्ति विषयासक्ति के दोष जान कर उनमें अनासक्त हो जाता है, उनके प्रति वैराग्य धारण कर लेता है, तब उसकी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ रुकने लगती है, चित्त की एकाग्रता बनने लगती है, उस स्थिति में आत्मा के नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव में, परमात्मा के स्वरूप में समाहित होने का बार–बार प्रयत्न करना 'अभ्यास' कहलाता है। इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।

**तस्य वाचकः प्रणवः।** (योगसूत्र–1.27)
**तज्जपस्तदर्थभावनम्।।** (योगसूत्र–1.28)

योग (समाधि) का अभ्यास करने के लिए भगवान् के नाम का जप करना चाहिए। अतः बताया गया है कि उसका वाचक शब्द प्रणव (ओम्) है। इस का जप अर्थ की भावना अर्थात् ब्रह्म के एकत्व का सर्वत्र दर्शन व अनुभूति करते हुए करना चाहिए। इससे चित्तवृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं।

वेद में भी कहा–

**ओं क्रतो स्मर। ओं खं ब्रह्म।** (यजुः– 40.15)

अर्थात् हे कर्मशील मनुष्य! 'तू ओम्' का स्मरण कर। वह आकाश के समान सर्वव्यापक है।

**ओं प्रतिष्ठ।** (यजुः-2.13)

ओं में प्रतिष्ठित हो जाओ। अर्थात् 'ओम्' का जप करते हुए, उसी में मन लगाओ।

**स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।**
**योगस्वाध्यायसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥**

(योगसूत्र-1.28 व्यासभाष्य)

प्रणव (ओंकार) का अर्थभावना पूर्वक जप स्वाध्याय है। साधक ओंकार का अर्थभावना सहित जप करता हुआ योग (समाधि) में लीन हो जाता है और समाधि से उठने पर फिर ओंकार-जप में लग जाता है। इस प्रकार अभ्यास करने से आत्मचैतन्य व परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। परमात्म-साक्षात्कार होता है।

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।**
**यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥**

(गीता-8.13)

गीता में भी कहा- अन्तकाल में जो 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्द का उच्चारण करते हुए, भगवान् का स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर इस लोक से प्रस्थान करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

**तीव्रसंवेगानामासन्नः।** (योगसूत्र-1.21)

तीव्रसंवेग (उत्कट लगन) वाले साधकों की शीघ्र समाधि-सिद्धि होती है।

**ईश्वरप्रणिधानाद्वा।** (योग.-1.23)

ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् परमेश्वर के प्रति सब कर्मफलों का अर्पण करने से भी साधक को शीघ्र समाधि-सिद्धि होती है।

**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।**
**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्**
**व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥** (यजु.-40.8)

वह परमात्मा सब ओर विद्यमान है, व्यापक है। शुक्र (सर्वशक्ति सम्पन्न) है। अकाय (कायरहित/निराकार) है, अतः एव व्रण (घाव) एवं स्नायु आदि से रहित है। वह सर्वथा पापरहित है। परमेश्वर कवि (क्रान्तद्रष्टा, सर्वज्ञ) एवं मनीषी (अन्तर्यामी) है। परिभू (सब ओर विद्यमान) एवं स्वयम्भू (स्वयं ही अपनी सत्ता से प्रकट होने वाला अजन्मा, अनादि) है। यह दयालु परमेश्वर अपनी जीवरूपा शाश्वत प्रजा को सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान वेदों के रूप में देता है।

**अकामो धीरः अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।**
**तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥**
(अथर्व-10.8.44)

वह ईश्वर अकाम (सब कामनाओं से रहित) धीर, अमृत (अमर) स्वयम्भू (स्वयं ही अपनी सत्ता से प्रकट होने वाला), रस अर्थात् आनन्द से सर्वथा परिपूर्ण है तथा कहीं से भी न्यून (अपूर्ण) नहीं है। उस अजर, अमर, सदा युवा (सर्वदैव शक्तिसम्पन्न व अक्षीण) परमात्मा को जानने वाला मनुष्य मुत्यु से नहीं डरता है।

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण ।**
**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥**
(मुण्डक-2.2.12)

यह अमृत (अमर) ब्रह्म ही हमारे सामने, पीछे, दांये, बाएं, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर नीचे, सर्वत्र प्रसृत है, विराजमान है। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप में ही है, ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है।

**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**
**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥** (गीता-4.24)

**ब्रह्म ही सर्वस्व है**–यज्ञ करने वाले का अर्पणसाधन (स्रुवा, आहुति डालने वाली चम्मच) भी ब्रह्म ही है, हवि भी ब्रह्मस्वरूप है, अग्नि भी ब्रह्म ही है, ऐसी ब्रह्मरूप अग्नि में हवन करने वाला, आहुति देने वाला यजमान भी ब्रह्म हैं। इस ब्रह्माग्नि में ब्रह्म द्वारा की गई हुत (हवन क्रिया) भी ब्रह्म है। इस रीति से ब्रह्माग्नि में मानो ब्रह्म ने ही हवन किया है।

इस प्रकार ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने वाला फल भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार जिसने अहं को ब्रह्म में लीन कर दिया मानो वह स्वयं ब्रह्म हो गया।

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,**
**येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति,**
**तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।** (तैत्तिरीय उपनिषद्–3.1)

जिस निमित्त से ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें जाकर विलीन हो जाते हैं, वहीं ब्रह्म है, उसे जानने की कामना करो।

**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** (उपनिषद्)

सब दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है अर्थात् उस बह्म के निमित्त से बना उसका मूर्त्तरूप है। रचयिता की रचना में रचयिता का ही आभास होता हैं

**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।**
**एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।** (कठोपनिषद्–1.17)

ब्रह्म का यह आलम्बन (सहारा) ही सर्वश्रेष्ठ है। यही आलम्बन सबसे बड़ा है। इस आलम्बन को पा लने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त हो जाता है, प्रतिष्ठित होता है।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।** (गीता–6.30)

भगवान् कहते हैं- हे अर्जुन! जो मुझे सर्वत्र देखता है- अर्थात् सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को मेरा ही रूप जानता है, इस भावना वाले व्यक्ति के सामने मैं सदा विद्यमान रहता हूँ और वह भी सदा मेरे सम्मुख ही रहता है, कभी अदृश्य नहीं होता।

**यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या हम्।**
**स्युष्टे सत्या इहाशिषः।** (ऋग्-8.44.23)

हे सब को आगे ले चलने वाले, सबकी उन्नति करने वाले अग्निरूप मेरे प्रियतम परमेश्वर! मैं तेरी भक्ति में मग्न होकर त्वद्रूप हो जाऊं और तुम मुझ पर कृपालु हुए मुझ में बस जाओ, समाहित, प्रतिष्ठित हो जाओ, मद्रूप हो जाओ, तुम्हारे सब आशीष सत्य हो जाएं, मैं सदा तुम्हारे आशीषों से युक्त रहूँ।

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।** (यजुः-40.6)

जो सब भूतों (प्राणियों) को अपनी आत्मा में देखता है तथा सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है, इस प्रकार की यथार्थ दृष्टि वाला वह व्यक्ति कभी सन्देह में नहीं पड़ता है।

**यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।** (यजुः-40.7)

जिस ज्ञान की अवस्था में तत्त्वज्ञानी को सब भूत (प्राणी) आत्मस्वरूप में ही दिखते हैं, ऐसी अवस्था में एकत्व को देखने वाले उस ज्ञानी को शोक एवं मोह (मूढता) कैसे हो सकती है?

**वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।।**
**तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।।**
(यजुः-32.8)

जिस ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् एकनीड (एक घौंसले) के समान आश्रित है,

बुद्धि रूपी गुहा में स्थित उस चेतन ब्रह्म को वेन (विद्वान्) व्यक्ति देखता है, अनुभव करता है।

**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।**
**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥**

(कठोपनिषद्–5.12)

जो एक ही सब का वशी (नियन्ता/स्वामी) सभी भूतों का अन्तरात्मा है, वहीं मूलतः एक रूप को नाना रूपों में बनाता है। उस आत्मस्थ परमेश्वर को जो धीर योगी जन जान लेते हैं। उनका सुख शाश्वत (नित्य स्थिर) रहता है, अन्यों का नहीं।

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
**एकं सद्विप्र बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥**

(ऋग्वेद–1.164.46)

एक परमेश्वर को ही उसके अनेक गुण–कर्मों के आधार पर विद्वान् लोग– इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् इत्यादि अनेक नामों से बोलते हैं।

**एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।**
**एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥**

(ऋ.–8.58.2)

एक ही अग्नि अनेक प्रकारों में प्रज्वलित दिखाई देता है। एक ही सूर्य सब जगत् को प्रकाशित करता हुआ सर्वत्र समर्थ बना हुआ है, एक उषा ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करती है, इसी प्रकार एक ब्रह्म ही सर्व जगत् के रूपों में नाना प्रकार से प्रकट हो रहा है।

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**
**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥**

(कठोपनिषद्–4.11)

जो यहाँ है, वही अन्यत्र है तथा जो अन्यत्र है वही यहां है। भाव

यह है कि निकटस्थ एवं दूरस्थ, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सभी पदार्थों में वही ब्रह्म समाया हुआ है। जो इस एकत्व दृष्टि की अपेक्षा नानात्व दृष्टि रखता है, संकीर्ण दृष्टि रखता है, वह उत्तरोत्तर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

**मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।**
**मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।**

(कठोपनिषद्-4.12)

मन अर्थात् मनन से ही यह ब्रह्मतत्त्व प्राप्त करने योग्य है। इस में नाना कुछ भी नहीं है। जो कोई इस में नानात्व देखता है, वह उत्तरोत्तर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।** (योगसूत्र- 3.1)

चित्त का स्थानविशेष में बांधना, एकाग्र करना धारणा है, अर्थात् मन को एक जगह टिकाना धारणा है।

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।** (योगसूत्र-3.2)

धारणा में प्रत्ययैकतानता (सदृश वृत्तिप्रवाह) को ध्यान कहते हैं, अर्थात् मन के टिकाव की निरन्तरता बनी रहे, इसे ध्यान कहते हैं।

**ध्यानं निर्विषयं मनः**- (सांख्यसूत्र-6.25),

मन को बाह्य विषयों से रहित करना, वृत्तिहीन करना ही ध्यान है। इस में मन के बाह्य विषयों से हटने पर एकाग्रता व स्थिरता हो जाती है तथा आत्मतत्त्व की अनुभूति होने लगती है।

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**

(योगसूत्र-3.3)

वही ध्यान जब बहुत दृढ़ हो जाता है तथा ध्याता ध्येय रूप में तन्मय होकर अपने को भूला हुआ सा ध्येयाकार में ही अनुभव करने लगता है, उसे समाधि कहते हैं।

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।** (योगसूत्र-1.20)

श्रद्धा, वीर्य (योगविषयक वीरता/उत्साह) स्मृति (प्रतिक्षण आत्म-विषयक जागरूकता) समाधि (एकाग्रता) व प्रज्ञा (समाधिजन्य विवेक)- योग को सिद्ध करने वाले साधन हैं। जिनकी पूर्वजन्मों की साधना नहीं है, उनका योग नये सिरे से इन उपायों को अपनाने से सिद्ध होता है।

**त्रयमेकत्र संयमः।** (योगसूत्र-3.4)

धारणा, ध्यान एवं समाधि- इन तीनों के एकत्र उपयोग को संयम कहते हैं।

**तज्जयात् प्रज्ञालोकः।** (योगसूत्र-3.5)

संयम के दृढ़ होने से प्रज्ञालोक (समाधिप्रज्ञा का प्रकाश) प्रकट होने लगता है।

**प्रातिभाद्वा सर्वम्।** (योगसूत्र-3.33)

प्रातिभ ज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है। यह विवेकज ज्ञान से पूर्व प्रकट हुआ करता है, जैसे सूर्योदय से पूर्व उषा प्रकट होती है।

**वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।**

(योगसूत्र-1.17)

क्रमशः सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर तत्त्वों का ज्ञान करवाने वाली समाधि सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह वितर्क, विचार आनन्द एवं अस्मिता के साथ होती है। अतः इसे सवितर्क, सविचार, सानन्द एवं सास्मित समाधि कहा जाता है।

**एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।**

(योगसूत्र-1.44)

स्थूल विषय वाली सवितर्क समापत्ति होती है। उससे सूक्ष्म विषय वाली सविचार एवं निर्विचार समापत्ति (समाधि) जाननी चाहिए।

**निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।** (योगसूत्र–1.47)

निर्विचार समापत्ति (समाधि) का दृढ अभ्यास होने पर अध्यात्म–प्रसाद, अर्थात् प्रकृति से पृथक् आत्मा की स्पष्ट एवं प्रबल अनुभूति होने लगती है।

**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।** (योगसूत्र–1.48)

समाधि सिद्ध होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, इसका नाम ऋतम्भरा इसलिए है कि यह केवल ऋत- (सत्य) ज्ञान को अपने में धारण करती है। इसके मिलने पर मिथ्या ज्ञान या भ्रम लेशमात्र भी नहीं रहता।

**श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।**

(योगसूत्र–1.49)

श्रुतप्रज्ञा (शास्त्रोपदेश से मिली प्रज्ञा) एवं अनुमानप्रज्ञा (अनुमान प्रमाण से प्राप्त प्रज्ञा) से समाधिजन्य प्रज्ञा विशिष्ट होती है, क्योंकि उसमें ज्ञातव्य विशेष रूप में (प्रत्यक्ष रूप में) जाना जाता हैं। इसे योगज प्रत्यक्ष भी कहा जाता है, अतः शास्त्रज्ञान एवं अनुमान से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा समाधि से प्राप्त ज्ञान विशेष होता है।

**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।** (योगसूत्र–1.50)

समाधिजन्य संस्कार अन्य लौकिक संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है।

**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।**

(योगसूत्र–1.51)

समाधिजन्य संस्कार का निरोध होने पर तो सर्वसंस्कार–निरोध हो जाने से निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है। इसका नाम निर्बीज समाधि इसलिए है कि इस में संस्कारों का बीज भी शेष नहीं रहता। इसे असम्प्रज्ञात समाधि इसलिए कहते हैं कि इसमें कुछ ज्ञातव्य नहीं होता, प्रत्युत आत्मा अपने आनन्दमय शान्त स्वरूप में ही मग्न रहता है।

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।** (योगसूत्र-4.34)

पुरुषार्थ (भोग एवं अपवर्ग) को सिद्ध कर चुके प्रकृति के तीनों गुण का अपने कारण में लीन हो जाना ही कैवल्य (अपवर्ग) कहलाता है। इसमें प्रकृति-संसर्ग से मुक्त आत्मा केवल (अकेला) शुद्ध चैतन्यरूप शेष रह जाता है। अतः इसे कैवल्य कहते है।

**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।** (न्यायदर्शन-1.1.2)

न्यायदर्शन में मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है- दुखः-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञान- इन में अन्त की ओर से एक-एक के निवृत्त होने से उसके पूर्व वाले की स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने से दोषों की निवृत्ति हो जाती है, दोषों के निवृत्त होने से सभी सकाम प्रवृत्तियों की निवृत्ति हो जाती है- इसके परिणामस्वरूप जन्म की (जन्ममरण-चक्र) की निवृत्ति हो जाती है तथा इसके निवृत्त होने पर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

**धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।** (वैशेषिकसूत्र-1.1.4)

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय- इन छह पदार्थों के धर्मविशेष से प्रादुर्भूत तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्त होती है। उक्त पदार्थों का यह तत्त्वज्ञान साधर्म्य (समानगुणता) एवं वैधर्म्य (असमानगुणता) की पर्यालोचना के साथ होना चाहिए।

***

# व्यवहार काल का योग – निष्काम सेवा

**ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥**

(यजु.–40.1)

इस संसार में जो कुछ भी स्थावर–जंगम पदार्थ समूह है, वह सब इसके स्वामी ईश्वर द्वारा व्याप्त किया हुआ हैं, अतः उससे प्राप्त पदार्थों का त्यागभाव से उपभोग करो, सदुपयोग करो। यह मेरा है, ऐसा समझ कर नहीं। जब यह उसीका है, तुम्हारा है ही नहीं, तो इस में 'मेरा' की भावना करके लोभ क्यों किया जावे। अतः इस में लोभ की भावना मत करो। क्योंकि यह धन किसका है? अर्थात् किसी का भी नहीं, उसी ईश्वर का है।

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥**

(यजु.–40.2)

इस संसार में कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। ऐसा करने से मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होते। अर्थात् अनासक्ति के कारण कर्मों के संस्कार नहीं बनते, अतः मनुष्य कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है, कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥** (यजु.–40.14)

विद्या (यथार्थ ज्ञान) एवं अविद्या (कर्म या पुरुषार्थ) इन दोनों को जो एक साथ जानता है, वह अविद्या (कर्म, पुरुषार्थ) से मृत्यु को पार कर विद्या (यथार्थ आत्मज्ञान) से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

**श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।** (गीता–4.39)

अध्यात्म–मार्ग में श्रद्धा माता तथा विश्वास पिता है। श्रद्धावान् एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति ही तत्परता पूर्वक ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त कर तुरन्त ही परम शान्ति को पा लेता है। अर्थात् जब तक अज्ञान है, तब तक ही अशान्ति रहती है।

**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्याते।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।** (गीता–4.38)

इस लोक में ज्ञान के सदृश पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान को योगसिद्ध व्यक्ति कालानुसार अपनी अन्तरात्मा ही में पा लेता है।

**स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।**
**पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।।** (ऋग्वेद–5.51.55)

सूर्य, चन्द्र के समान हम सदा स्वस्ति पन्था (कल्याण मार्ग) पर चलते रहें। हम दानशील व अहिंसाशील बनें एवं ज्ञानी जनों की संगति सदा करते रहें।

**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।**
**आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।**
(ऋग्वेद–10.5.6)

कवियों (क्रान्तदर्शी विद्वानों) ने सात मर्यादाएं– सात निषिद्धि कर्मों की व्यवस्था दी है। जो व्यक्ति इनमें से एक को भी अपनाता है, वह अंहुर (पापी) बन जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार ये सात निषिद्ध कर्म इस प्रकार है–1 स्तेय (चोरी), 2. तल्पारोहण (परस्त्री–संसर्ग), 3. ब्रह्महत्या (ज्ञानी, लोकोपकारी पुरुष की हत्या), 4. भ्रूणहत्या, 5. सुरापान (मद्यपान), 6. पाप कर उसे छिपाने के लिए मिथ्याभाषण, 7. पाप कर्म को पुनः पुन करना। जो इन सातों से दूर रहता है, वह निश्चय ही जीवन के स्कम्भ (उच्चतम शान्ति के धाम) एवं सब मार्गों

के विलयस्थल सर्वाधार परमेश्वर में स्थित होता है तथा धारक शक्तियों में स्थिर रहता है। भाव यह है पाप न कर सदाचरण करने वाला व्यक्ति इस लोक में अभ्युदय पाता है तथा मरणोपरान्त मोक्ष पद को पा लेता है।

**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**

(अथर्व–12.1.1)

बृहत् सत्य (बड़ी दृढ़ सत्यनिष्ठा), ऋत (यथार्थ ज्ञान), उग्र (क्षात्रतेज, पराक्रमशीलता), दीक्षा, तप, ब्रह्म (बृहत् ज्ञान) एवं यज्ञ (दान, त्याग)– ये पृथ्वी को धारण किए रहते हैं– अर्थात् इन्हीं से पृथ्वी की सुव्यवस्था बनी रहती है।

**शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।** (अथर्व–3.24.5)

हे मनुष्य! सौ हाथों वाला बनकर पुरुषार्थ करते हुए धनार्जन कर तथा सहस्र हाथों वाला बन कर उसका दान कर, सत्पात्रों में वितरण कर।

**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।** (अथर्व–7.50.8)

कृत (कर्म/पुरुषार्थ) मेरे दायें हाथ में है तथा उसके परिणामस्वरूप बायें हाथ में विजय स्थित है। अर्थात् पुरुषार्थी सदा विजय प्राप्त करता है।

**अहमिन्द्रो न पराजिग्ये।** (ऋग्वेद–10.48.50)

मैं इन्द्र (ऐश्वर्य, शक्ति से युक्त आत्मा) हूँ। मैं कभी पराजित नहीं होता हूँ।

**अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतम्म आसन्।**
**अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।**

(यजुः–18.66)

मैं अग्नि हूँ, जन्म से अर्थात् स्वभाव से ही जागरूक हूँ। तेजस्विनी हैं मेरी आँखें, मेरे मुख में अमृत है। मैं सूर्य के समान तेजस्वी हूँ, शरीर, मन व आत्मा– इन तीनों के तेज को धारण करने वाला हूँ। सारे लोक को, भूमण्डल को माप लेने वाला विजेता हूँ।

मैं आहुति हूँ, शुभ कार्य में अपनी बलि देने वाला हूँ।

**चरैवेति चरैवेति, पापो निषद्वरो जनः इन्द्र इच्चरतः सखा।**

(एतरेय ब्राह्मण)

सदा चलते रहो, अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए सदा पुरुषार्थ करते रहो। निषद्वर (निठल्ला बैठे रहने वाला, अकर्मण्य) व्यक्ति पापी होता है, क्योंकि खाली मन शैतान का घर होता है। इन्द्र (परमैश्वर्य सम्पन्न) ईश्वर तो चलने वाले का (पुरुषार्थी का) ही साथी होता है।

**उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम्।**
**सोत्साहस्यास्ति लोकेऽस्मिन्न किंचिदपि दुर्लभम्।।**

(रामायण, किष्किन्धाकाण्ड)

सीताहरण से निराश व खिन्न राम को धीरज बंधाते हुए लक्ष्मण ने कहा- हे आर्य! उत्साही व्यक्ति ही बलवान् होता है; क्योंकि संसार में उत्साह से बढ़कर कोई बल नहीं है। उत्साही व्यक्ति के लिए इस जगत् में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

**विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः**
**विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।**
**तथाप्येको रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलम्,**
**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।।** (भोजप्रबन्ध)

महा दुर्ग रूप लंका जीतनी थी, नौका आदि के बिना ही समुद्र पार करना था। विपक्षी शत्रु विश्व विजेता रावण था, तथापि उत्साह शक्ति से अकेले राम ने सम्पूर्ण राक्षस-सेना को मार गिराया। सच है- महापुरुषों की कार्यसिद्धि सत्त्व (उत्साह) पर निर्भर होती है, उपकरणों (साधनों) पर नहीं।

## अकर्मण्यता-प्रमाद

**अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।**
**त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय।।** (ऋग्वेद-10.22.8)

अकर्मा (अकर्मण्य) व्यक्ति दस्यु होता है। क्योंकि उसमें कमा कर खाने की अपेक्षा लूट कर खाने की भावना होती है। ऐसा जो अज्ञानी एवं दूसरों को अपमानित करने वाला है, वह मनुष्यता से रहित तथा आसुरी वृत्तियों वाला होता है। हे शत्रुनाशक इन्द्र! ऐसे समाज-घातक की प्रहरणशक्ति को नष्ट कर दो।

**अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम्।**
**अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः॥** (धम्मपद-2.1)

अप्रमाद अमृत पद है तथा प्रमाद मृत्युपद (मृत्यु का आधार)। अप्रमत्त (सावधान जन) नहीं मोरे जाते हैं, जैसे कि प्रमत्त जन मारे जाते हैं।

**नहि प्रमादात् परमस्ति किञ्चिद् वधो नराणामिह जीवलोके।**
**प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात्त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति॥**

(महाभारत, सौप्तिकपर्व-10.19)

इस संसार में प्रमाद से बढ़कर मनुष्य का कोई वध (मृत्यु) नहीं है अर्थात् प्रमाद ही विनाश का सबसे बड़ा कारण है। प्रमत्त व्यक्ति को सब अर्थ (अभीष्ट सिद्धियाँ) छोड़ देते हैं तथा अनर्थ घेर लेते हैं।

**कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः ।**
**उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥**

(एतरेय ब्राह्मण- 7.16)

सोने वाला कलियुग का रूप है, उठने के लिए अंगड़ाई लेने वाला द्वापर का रूप है, उठने वाला त्रेता का रूप और चलने वाला पुरुषार्थी तो साक्षात् सतयुग रूप होता है। सत युग के समान पुरुषार्थी में ही धर्म व पुण्यफल प्रतिष्ठित होते हैं।

**न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किंचन।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥** (गीता-3. 22)

हे अर्जुन! पूर्णकाम एवं कृतकृत्य होने से मेरे लिए तीनों लोकों मे कुछ भी करना शेष नहीं है। पुनरपि मैं परहितार्थ निष्काम भाव से कर्म

में लगा ही रहता हूँ।

**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥**
**उत्सीदेयुरिमे लोमा न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
**संकरस्य य कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥** (गीता–3. 23–24)

हे अर्जुन! मैं इस प्रकार जागरूक होकर कर्म न करूं तो सब मनुष्य मेरी अकर्मण्यता का अनुसरण करने लगेंगे। अर्थात् मनुष्य मुझे कर्महीन देखकर अपना कर्तव्य कर्म छोड़ देंगे।

उससे यज्ञचक्र के बाधित होने से वृष्ट्यादि के अभाव में जीव नष्ट होने लगेंगे और वर्णाश्रम–कर्मों के लुप्त हो जाने से प्रजाजन भी विनाशोन्मुख हो जाएंगे। इस प्रकार मैं कर्म न करूं तो बड़ा अनर्थ होगा, सब मर्यादाएं अस्त–व्यस्त हो जाएंगी।

**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम्।**
**जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥** (गीता–3.26

यद्यपि निष्काम ज्ञानी व्यक्ति को कर्मफलों की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी वह लोकहित में कर्म करता ही रहे। जिससे कर्मफल में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी जनों में अकर्मण्यता की भ्रान्ति पैदा न होने पाए। इस प्रकार विद्वान् सावधान होकर स्वयं कर्म करता हुआ अपने आचरण से लोक को भी अपने कर्तव्य कर्मों के लिए प्रेरित करता रहे।

**उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।**
**षडेते यत्र वर्त्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥** (पञ्चतन्त्र)

उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि (प्रतिभा), शक्ति एवं पराक्रम– ये छह गुण जहाँ होते हैं, वहाँ भगवान् स्वयं सहायक बन जाता है

**शुभमनुपश्यन्तं विहरन्तमिन्द्रियेषु असंवृतम्।**
**भोजने अमात्राज्ञं कुसीदं हीनवीर्यम्।**
**तं वै प्रसहति मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम्।।** (धम्मपद–1.7)

जो व्यक्ति संसार में आकर्षण या लुभावनी वस्तुओं को ही रागपूर्वक देखता है, इन्द्रिय-विषयों में असंयत होकर विचरण करता है, भोजन में मात्रा नहीं जानता है, रसासक्ति के कारण बहुत अधिक खाता है। कुसीद (आलसी, कामचोर) और हीनवीर्य (वीरताहीन, पराक्रमशून्य) है। उसे मार (काम) ऐसे दबा लेता है, जैसे दुर्बल वृक्ष को आंधी।

**अशुभमनुपश्यन्तं विहरन्तम् इन्द्रियेषु सुसंवृतम्।**
**भोजने च मात्राज्ञं श्रब्धम् आरब्धवीर्यम्।**
**तं न प्रसहते मारो वातः शैलमिव पर्वतम्।।** (धम्मपद–1.8)

जो आकर्षण या लुभावनी वस्तुओं की अपेक्षा उनके अन्दरूनी बीभत्स रूप को भी देखता है। इन्द्रिय-विषयों में संयमी होकर विचरण करता है, भोजन में मात्रा को जानता है, मितभोजी तथा कालभोजी है। जो श्रब्ध (चौकन्ना/सावधान) रहने वाला तथा पराक्रमशील (उद्योगी) है। उसे मार (काम) वैसे ही नहीं दबा सकता, जैसे वायु बड़ी-बड़ी शिलाओं वाले पर्वत को।

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।**

(गीता–2.48)

हे धनञ्जय (अर्जुन)! फलासक्ति छोड़कर योगस्थ (समता में स्थित) होकर, सफलता व असफलता में सम रहते हुए कर्म करो। क्योंकि ऐसा समत्व ही योग है।

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।**
**तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।** (गीता–2.50)

इस समत्व बुद्धि से युक्त पुरुष सुकृत व दुष्कृत (पाप-पुण्य)- इन दोनों से ऊपर उठ जाता है। पाप तो वह करता ही नहीं, पुण्य को भी ईश्वरार्पण भाव से करता है। अतः उसके संस्कार से भी निर्लिप्त रहता है। ऐसा जानकर तुम युद्ध रूप कर्मयोग के लिए खड़े हो जाओ, इस में तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा; क्योंकि योग ही कर्म करने में सबसे बड़ा कौशल है।

कर्म शुभाशुभ फल देने के कारण बन्धनकारक होते हैं। परन्तु योग (समत्व बुद्धियोग) से कर्म करने वाला कर्मयोगी शुभाशुभ फलों से साफ बच जाता है। इसलिए योग को सबसे बड़ा कौशल (चातुर्य) कहा है; इससे बन्धन स्वभाव वाले कर्म भी योगी को बन्धन में नहीं डाल पाते हैं।

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।** (गीता-5.10)

जो व्यक्ति कर्मफलों को ईश्वर के प्रति समर्पित करते हुए अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म करता है। वह उसी प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता है, जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता।

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**
**स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।**

(गीता-6.1)

जो कर्मफल का आश्रय न लेते हुए अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, वही वस्तुतः संन्यासी एवं योगी है। अग्नि (अग्निहोत्र) एवं क्रिया (कर्मों) का त्याग करने वाला नहीं।

**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।**
**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।** (गीता-5.11)

योगी जन केवल शरीर केवल मन, केवल बुद्धि एवं केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं। उनके ये कर्म आसक्ति को छोड़कर केवल

आत्मशोधन के लिए होते हैं। जब व्यक्ति निष्काम भाव से सेवा आदि कर्म करता है, तो उसके राग-द्वेष क्षीण हो जाते है। इस प्रकार उक्त प्रकार का कर्मयोग आत्मशोधन करता है।

**मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥**

(गीता- 18.26

फलासक्ति को छोड़ने वाला, 'मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार के अहंकार से दूर रहने वाला, धृति (धैर्य व मन की संयम-शक्ति) एवं उत्साह से युक्त तथा सफलता व असफलता में निर्विकार रहने वाला कर्त्ता सात्त्विक होता है।

**अज्ञान –**

**अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।**
**जंघन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥**

(मुण्डक-2.8)

जो मूढ जन अविद्याग्रस्त होने पर भी अपने को धीर व पण्डित मानते हैं, वे जरा रोग आदि दुःखों से पीड़ित हुए सब ओर भटकते रहते हैं। वे अनर्थगर्त्त में गिरते हैं, जैसे अन्धे द्वारा ले जाया जाता हुआ अन्धा व्यक्ति।

**अशांति –**

**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
**न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥**

(गीता-2.66)

असमाहित-चित्त व्यक्ति की आत्मोन्मुखी बुद्धि नहीं होती और न ही आत्मविषयक भावना होती है। आत्म-विषयक भावना से रहित व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती तथा अशान्त को सुख कहाँ।

**शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।**
**शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः॥**

(रामायण–अयोध्याकाण्ड–48.20)

शोक धैर्य को नष्ट कर देता है, शोक श्रुत (शास्त्रज्ञान) को नष्ट कर देता है। यहां तक कि शोक सब कुछ नष्ट कर देता है। अतः शोक सम दूसरा शत्रु नहीं है।

## उत्तम आचरण/शील ही योग ( समाधि ) तक ले जाने वाला मुख्य आधार

**अंहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।** (योग.–2.30)
**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥**

(योगसूत्र–2.32)

अंहिसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य) ब्रह्मचर्य (जननेन्द्रिय का संयम) एवं अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना)– ये पाँच यम अष्टांग योग के प्रथम अंग के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार शौच (बाहर भीतर की शुचिता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर के प्रति सब कर्मो/कर्मफलों का समर्पण)– ये पांच नियम हैं।

श्रद्धापूर्वक यम–नियमों का पालन करने से मन निर्मल व शान्त होता है। इनका पालन किए बिना योग में प्रगति सम्भव नहीं है। क्योंकि यह शील (सदाचरण) ही समाधि (मन की एकाग्रता) का मूल आधार है। अत एव कहा है–

**शीलमास्थाय वर्त्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः।**
**स्थानाद्यानीव कार्याणि प्रतिष्ठाय वसुन्धराम्॥** (सौन्दरनन्द)

जैसे धरती पर पैर टिकाने के बाद ही मनुष्य द्वारा भार उठाना आदि क्रिया सम्पन्न हो पाती है। इसी प्रकार शील (यम–नियम पालन) के दृढ़ आधार पर ही कल्याण मार्ग की सब आध्यात्मिक क्रियायें सम्पन्न होती है।

**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।** (योगसूत्र- 2.33 )

यम-नियम के पालन में बाधा करने वाले वितर्क उत्पन्न हों तो उनको निरस्त करने के लिए प्रतिपक्ष भावना (विरोधी विचार) करने चाहिए। जैसे कि हिंसा करने एवं असत्य बोलने का वितर्क उपस्थित हो तो मन में इस प्रकार की भावना लानी चाहिए कि- हिंसा व असत्य से पापों का ढेर इकट्ठा हो जाता है तथा मनुष्य नरक का भयंकर दुःख भोगता है- इत्यादि।

**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।** (योगसूत्र- 2.1)

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान- यह क्रियायोग (कर्मयोग) है। कर्तव्यपालन एवं साधना में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सम भाव से सहना तप है। ओम्-जप एवं अन्य गायत्री मन्त्र आदि का जप तथा आध्यात्मिक शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। ईश्वर के प्रति सब कर्मो/कर्मफलों का समर्पण ईश्वरप्रणिधान है। इन तीनों का आचरण में उतारना ही क्रियायोग अथवा कर्मयोग है। इसके अनुष्ठान से अशान्त व्यक्ति का मन भी निर्मल, शान्त एवं एकाग्र होने लगता है। इस प्रकार वह क्रियायोग से ध्यानयोग की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

**धर्म –**

**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** (वैशेषिक सूत्र)

जिससे अभ्युदय (लौकिक सुख व उन्नति) तथा निःश्रेयस पारलौकिक परम कल्याण (मोक्ष) की सिद्धि होती है, वही धर्म है।

**परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।**
**परेहि न त्वा कामये वक्षाँ वनानि सञ्चर गृहेषु गोषु मे मनः॥**
(अथर्व-6.45.1)

अरे! मेरे मन के पाप परे चला जा। तू क्यों कुत्सित कल्पना करता

है। तू मेरे से दूर, वृक्षों वनों में चला जा। मेरा मन तो घर और गायों में है। अर्थात् मैं अपने व समष्टि के अभ्युदय और गायों की सेवा में लगा हूँ। मैं पापपूर्ण विचारों को मन में नहीं आने दूंगा।

**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥**

(यजुः- 30.3)

हे सवितः देव परमेश्वर! मेरे सभी दुर्गुण-दुर्व्यसनों एवं अज्ञान को दूर कर दो तथा जो सद्गुण, सत्कर्म एवं निर्मल ज्ञान हैं, उन्हें मुझे प्राप्त कराओ।

**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽब्धासो अपरीतास उद्भिदः।**
**देवा नो यथा वेदसामद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥**

(ऋग्वेद-1.89.1)

हे परमेश्वर! कल्याणकारी विचार सब दिशाओं से हमारे पास आएं तथा वे दृढ़ रहे कि उन्हें किसी प्रकार से दबाया न जा सके, विरोधी विचारों द्वारा कुण्ठित न किया जा सके। इस प्रकार उत्तम विचारों को धारण करने पर दैवी शक्तियाँ हमारे साथ रहेंगी, सदा हमारी रक्षा करती रहेंगी और दिन-प्रतिदिन हमें आगे बढ़ाती रहेंगी।

**बाह्य पुरुषार्थ से समृद्धि तथा आन्तरिक पुरुषार्थ से समाधि (निःश्रेयस) को सिद्ध करना चाहिए।**

**शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म एवं शुद्ध उपासना अर्थात् ज्ञानयोग, कर्मयोग व भक्तियोग- यह योग की त्रिवेणी है।**

**अज्ञान, अकर्मण्यता व अशान्ति (शोक)- ये मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु है। काम, क्रोध व लोभ- ये तीन नरक के द्वार हैं तथा निष्काम, निर्वैर एवं निर्लोभ होने पर यहीं स्वर्ग या वैकुण्ठ मिल जाता है।**

***